Volume : 4 | Issue : 9 | Sept 2015 ISSN - 2250-1991

Research Paper History

जैन साहित्य में व्यक्ति और समाज
Jain Sahitya me Vyakti or Samaj

PROF. DR. B.L SETH DIRECTOR TRILOK INSTITUTE OF HIGHER STUDIES AND RESEARCH HOTEL OM TOWER, CHURCH ROAD, M. I. ROAD JAIPUR-302001

Snehlata Shah RESERCH SCOLAR, JJT UNIVERSITY JHUNJHUNU

KEYWORDS

जैन साहित्य में व्यक्ति और समाज

लोककल्याणकारी राज्य की धारणा राज्य को मानव मात्र की भलाई का एक अभिकरण मानती हैं। जैन संस्कृत पुराणों मे वर्णित राज्य का लक्ष्य जनता की भलाई करना था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर भी उस सीमा तक ही प्रतिबंध लगाए गये थे, जहां तक वे सामाजिक हित के लिए आवश्यक हों वास्तव में कल्याण का रूप भारतीयों ने व्यक्तिगत नही रखा, वे सामाजिक दृश्टि से सोचते थे। के. एम. पनिक्कर का मत है कि भारतीय सिद्धान्त ने व्यक्ति को समाज के भिन्न कोई भी अधिकार नही सौंपा था। जैनाचार्यो के मत में व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। प्रारम्भ में राज्य द्वारा व्यक्ति की नैतिक उन्नति पर जोर दिया जाता था, किन्तु कालान्तर में उसकी भौतिक एवं आर्थिक उन्नति पर अधिक जोर दिया जाने लगा। लोगों को सुरक्षा प्रदान करना, समाज में भांति एवं सुव्यवस्था की स्थ.ापना, अधर्म व अत्याचार के स्थान पर धर्म तथा न्याय की स्थापना करना राज्य का मुख्य उद्देश्य था।

आलोचित पुराणों मे व्यक्ति की वैयक्तिक स्थिति समाज के बिना संभव नही है। वैयक्तिकता मुनश्य का वह गुण है जिसके कारण वह स्वतः के विचारों के आधार पर कार्य करता है, तथा अपने जीवन को परिश्कृत कर भाश्वत सुख लाभ करता है। जैन परमपरानुसार सृश्टि के आरम्भ में भोगभूमि थी। उसके समाप्त होने पर कर्मभूमि प्रारम्भ हुई। भोगभूमि में जीवन पूर्णरूपेण भोगमय था। भोगभूमि में भोजन वस्त्र सभी वस्तुएं विभिन्न प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती थी। पुराणों में वर्णित भोगभूमि के जीवन को हम वैयक्तिक जीवन नही मान सकते है, क्योंकि वहां व्यक्ति नही नर–ना.री एक साथ निवास करते है। अर्थात इस युग में यौगलिक व्यवस्था थी। एक युगल जन्म लेता और वही अन्य युगल को जन्म देने के बाद समाप्त हो जाता था। सांसा.रिक भोगो की अनुभूमि वैयक्तिक होने पर भी उसका विकास युगल के मध्य होता है। यही कारण है कि भोगभूमि में युगल उत्पति की कल्पना की गई है।

सामाजिक और संस्कृति का विकास इसी युगल परिवार से होता है। जब भोगभूमि कर्मभूमि में परिवर्तित होती है, कल्पवृक्ष नश्ट होनें लगे तो जीवन की समस्याएं बढ़ती जाती है। जिसका समाधान एक युगल नही कर सकता, अनेक युगल करते है और इन अनेक युगलों का समूह ही समाज बन जाता है। इसी युग में चौदह कुलकर उत्पन्न हुए।4 प्रजा को कुल की भांति एकत्र कर कुलकरों ने उपदेश दिये, समाज व्यवस्था प्रतिपादित की। कुलकरों द्वारा भोग व त्याग के समन्वित जीवन को प्रतिपा.दित करना, जीवन मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता और नियमितता प्रदान करना, मनुश्य के नैतिक कर्मो का संकेत करना, क्रिया कलापों को नियंत्रित करने के लिए अनुशासन की स्थापना करना, सामाजिक प्राणी के मध्य संबंध स्थापित करना, कार्य प्रणाली का मार्ग दर्शन करना, भांति और संतुलन का प्रतिपादन करना, आजीविका, रीति रिवाज एवं सामाजिक योग्यताओं की प्राप्ति का प्रतिपादन करना, सामाजिक गठन व सामूहिक क्रियाओं का नियंत्रण कर सामाजिक कल्याण करना प्रमुख उद्देश्य था। इसी समय कर्मभूमि का आविर्भाव हुआ और कर्म के आधार पर फल की व्यवस्था का प्रतिपादन हआ। इसी समय नगरीय तथा कौटुम्बिक व्यवस्था के साथ कृशि कर्म भी प्रारम्भ हो गया था।

सामाजिक व्यवस्था और संतुलन की प्रक्रिया के मूल में कुल अथवा परिवार का महत्वपूर्ण स्थान प्रायः सभी संस्कृतियों और सभ्य देशों में प्रारम्भ से रहा है। इसका संकेत जैन पुराणों में भी उपलब्ध हैं महापुराण में कुल अथवा परिवार के नियामक के रूप में पिता को प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। और कहा गया है कि परिवार की सुरक्षा का उतरदायित्व उसके सदस्यों पर है। यदि इस मर्यादा में किसी प्रकार का व्यवधान होता है अथवा आचार की रक्षा नही हुई तो समस्त सम्पन्न क्रियाएं विनाश को प्राप्त होती है। पति–पत्नी एक दूसरे के पूरक कहे गए है। परिवार वह प्राथमिक माध्यम है जो वैयक्तिक आचरण को सामाजिक परिधि में ढालता है। जो क्रियाए परिवार में सम्पन्न होती है उनका सहज प्रभाव समाज पर और समाज का राश्ट्र पर पड़ता हैं। जैन पुराणों में संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित होने का उल्लेख है। सामान्यतया जैन पुराण सामाजिक व्यवस्था के आदर्श से प्रेरित है। महापुराण में वर्णलाभ क्रिया द्वारा योग्य पुत्र पृथक परिवार बनाते और पिता से अपनी सम्पति का विभाजन करवाते थे। सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण तत्व रक्षाविधि हैं अस्तित्व की रक्षा के लिए समाज का गठन किया गया। अतः महापुराण में (रक्षाविधिमन्वशात्) रक्षाविधि के प्रतिपादन की चर्चा है। महापुराण में ही 'प्रजानां प्रीणनं' और सुप्रजसः पदो से ज्ञात होता है कि प्रजा को प्रसन्न हो कर सहवास और संतानोत्पति द्वारा समाजवृद्धि करना चाहिए। सामाजिक व्यवहारों में समन्वय व सामन्जस्य से ही होता है। जिनसेन ने 'प्रजानां हितकृत' पद से मैत्रीपूर्ण पारस्परिक व्यवहार एवं संबंध की व्यंजना की है। पुराणों का सामाजिक जीवन पौरूश, त्याग, सेवा और विवेक से युक्त है। समाज को सुगठित करने सिद्धान्तो में अर्थ विकास को महत्व प्रदान किया गया है। महापुराण में उल्लेख है कि धम्र से धन और धन से विलालस–वैभव प्राप्त होते है। वही समाज सुगठित माना जाता है जिसमें आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक विक.ास के लिए सतत् प्रयास वर्तमान रहता हैं ।

'सत्यं भौचं क्षमा त्याग प्रज्ञोत्साह दया दमः।

प्रशमों विनयश्चेति गुणाः सत्वानुशंगिणः। महा., 15/214

सत्य, भौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय ये गुण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को विकसित करने में सहायक है। जिस व्यक्ति में ये गुण विद्यमान है वह समाज का उतम सदस्य बनने की क्षमता रक्षता हैं समाज का राज.नैतिक और आर्थिक ढ़ांचा लोकहित की भावना पर आश्रित था। महापुराण में वर्णित समाज व्यवस्था मनुश्य को केवल जीवित ही नही रखती बल्कि अच्छा जीवन यापन करने के लिए प्रेरित करती है। जिनसेन की दृश्टि में समाज एक समग्रता है। इसका गठन विशिश्ट उपादानों द्वारा होता है, जिसमें वैयक्तिक लाभ के साथ सामूहिक लाभ न्यायमार्ग की वृति उन्नति और विकास के लिए स्पर्धा कलह, प्रेम एवं संघर्श के द्व.ारा समाज की स्थिति मित्रता का व्यवहार बड़ो का उचित सम्मान परिवार के सदस्यों का सुगठित रूप गुण–कर्मानुसार जाति वर्ण व्यवस्था समानता और उदारता की दृश्टि आत्मनिरीक्षण की प्रवृति अनुशासन स्वीकार करने के प्रति आस्था, अर्जन के समान त्याग के प्रति अनुराग कर्तव्य के प्रति जागरूकता स्वावलम्बन की प्रवृति सेवा और त्याग की प्रवृति का अनुसरण आदि पर ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार महापुराण में समाज के संगठन पर पर्याप्त विचार किया गया है। संगठन के ये आधारभूत सिद्ध.ान्त इतने सार्वजनीन और उपयोगी है कि इनके व्यवहार करने से समाज नये रूप में सुगठित हो सकता है

महापुराण मे अनेक सामाजिक संस्थाओं का निर्दश मिलता है जिसमें कुलकर संस्था समवशरण संस्था, चतुर्विधसंघ संस्था, वर्णजाति संस्था, आश्रम संस्था, विवाह संस्था, कुल संस्था, संस्कार संस्था, परिवार संस्था, पुरूशार्थ संस्था तथा चैत्यालय संस्था मुख्य हैं। सामाजिक संस्थाओं के बिना सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नही है। सामाजिक चेतना के अभाव में कर्म का मार्ग संकीर्ण हो जाता है। समाज के विभिन्न आदर्श और नियंत्रण, जनरीतियों, प्रथाओं और रूढ़ियों के रूप में पाये जाते है। अतः नियंत्रण में वयवस्था स्थापित करने एवं पारस्परिक निर्भयता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि इनको एक विशेश कार्य के आधार पर संगठित किया जाए। इस संगठन का नाम ही सामाजिक संस्था है। समाज के विभिन्न अंगों को पर्याप्त स्वायतता प्राप्त थी। व्यक्ति समाज के कल्याण को ध्यान में रखते हुए अपने जीवन की उद्देश्य–पूर्ति के लिए कार्य करता था। वह अपने जीवन की रक्षा, उसके लिए आवश्यक साधनों को जुटाने परिवार के हित को बढ़ाने अपनी सम्पति एवं वस्तुओं के उपभोग तथा बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए कार्य करता था। व्यक्ति के सर्वागीण विकास के ऊपर अधिकतम बल दिया जाता था। व्यक्ति किसी अन्य का साधन न होकर स्वयं में एक ध्येय था। सरकारी संस्था उसकी उन्नति में योग तथा उसके सांसारिक हितो को प्रोत्साहन देते थे। व्यक्ति समाज के सामान्य हित व कल्याण के लिए अपने नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक कर्तव्यों का पालन करता था।

लोकमत की महत्ता

जैन संस्कृत पुराणो के अनुसार राज्यो में जनमत का महत्वपूर्ण स्थान था। अनेक संदर्भो में युवराज के अभिशेक पर जनता एवं जनप्रतिनिधियों की उपस्थिति उनकी स्वीकृति का परिचायक है। राजा के लिए ऐसा कार्य करना अनुचित था, जो जनता

में रोश उत्पन्न करे। समुदाय का हित ही राज्य का अंतिम ध्येय था। राजा अभिशेक के समय भापथ लेता था, जिसमें प्रजा पालन और सेवा का व्रत भामिल था। ये बातें इस तथ्य की सूचक है कि इन सभी कार्यो मे जनमत का यथेश्ट ध्यान रखा जाता था। राजा प्रजा से परामर्श कर उसके विचारों को पर्याप्त महत्व देता था।

विचारशील, त्यागी, विरक्त, तपस्वी और विद्वान आदि लोग जो समाज से अलग वनों में रहा करते थे उनका भी राजनीतिक प्रभाव था। सन्यासियों, तपस्वियों की सुसंग. ठित संस्थाओं के अतिरिक्त भासनकर्ताओं को सर्वधारण की सम्पति या विचारों का भी पूरा–पूरा ध्यान रखना पड़ता था। प्रजा–पीड़क और निरंकुश राजाओं का विरोध करना धर्मसम्मत बताया गया हैं, किन्तु आम जनता के हाथों में कोई वैधानिक भाक्ति नही थी, जिसके द्वारा वह राज्य के प्रशासन कार्य में साधारण रूप से भाग ले सकती थी।

नागरिकों के अधिकार

जैन संस्कृत पुराणों में प्रजा के अधिकारों का उल्लेख नही है और ऐसा करना आवश्यक भी नही समझा गया। पुराणकारों ने राजा के कर्तव्यों पर बल दिया और उनका विवेचन भी किया है। प्रजा का कल्याण ही राजा का परम कर्तव्य माना गया है। राज्य के कर्तव्यों से ही प्रजा के अधिकार निकलते है। राज्य का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति का चहुँमुखी विकास करना था। व्यक्ति का अपना आध्यात्मिक जीवन मनचाहे तरीके से व्यतीत करने का अधिकार था। राज्य व्यक्ति के मार्ग में आने वाली बाध ााओं का निराकरण करता था तथा सामाजिक कल्याण की दृश्टि से उसके व्यवहार पर कुछ प्रतिबंध भी लगाता था, किन्तु इन सबके बावजूद व्यक्ति को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की गई थी। राज्य उसके पूजा करने की स्वतंत्रता में कोई हस्तक्षेप नही करता था। व्यक्ति को अपने अनुकूल व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता थी, भार्त यह थी कि यह समाज के हितों का विरोधी न हो। व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह अपनी जाति तथा प्रदेशों की परम्पराओं का अनुगमन करे। लोगो के ज्ञानार्जन अथवा शिक्षा का राज्य से कोई संबंध नही था। यह व्यक्ति की अपनी इच्छा तथा व्यक्तिगत रूप से शिक्षण का कार्य करने वाले आचार्यो के बीच की बात थी। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पति के स्वामित्व एवं सद्माग्र से जीविका प्राप्त करने का अधिकार था। राजा पर यह प्रतिबंध लगाया गया है कि वह अन्यायपूर्ण धन संग्रह न करे। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य में रहने वाले व्यक्ति पर राज्य से अधिक समाज का नियन्त्रण था। समाज ही उसके व्यवहार का नियमन करता था। एक संदर्भ में राजा द्वारा प्रजा से परामर्श करने तथा उनके विचारों का समादर करने का भी विवरण है। प्रजा द्वारा अन्यायी राजा के राज्य से निश्कासन का भी एक प्रसंग वर्णित है। सामान्यतः राज्य नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप नही करता था और वाणिज्य व्यापार आदि के माध्यम से वे अपनी सम्पति किसी सीमा तक बढ़ा सकते थे।

नागरिकों के कर्तव्य

जैन संस्कृत पुराणों में प्रजा के कर्तव्यों का उल्लेख स्पश्ट रूप से नही मिलता है अध्ययन से ज्ञात होता है कि राज्य प्रजा की रक्षा और सर्वागीण अभ्युदय की व्यवस्था करता है, अतः वह अपेक्षा भी रखता है कि प्रजा उसके नियमों और आदेशों का पालन करके, उसके साथ पूरा सहयोग करे। राज्य के अनुशासन में रहना प्रजा का कर्तव्य माना गया हैं। प्रजा का यह भी कर्तव्य था कि अपनी रक्षा के बदले राज्य को अपनी आय का यथानुसार कर प्रदान करे। सप्तांग राज्य का सिद्धान्त भी राजनीतिक कर्तव्यों का आधार है। राजा और प्रजा दोनों राज्य भारीर के अंग है। राज्य अपने कार्यो द्वारा प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का प्रयत्न करता हैं। उसे इस कार्य में तभी सफलता मिल सकती है, जब प्रजा भी उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे। व्यक्ति का यह कर्तव्य था कि राज्य की आज्ञा का पालन करे। यदि वह ऐसा न करे तो राज्य में सुव्यवस्था एवं भाांति नही रह सकती। राजा दुश्टों के निग्रह और शिश्टो के रक्षण के लिए कुछ नियम लागू करता है। इसका व्यक्ति को विरोध नही करना चाहिए। राज्य का लक्ष्य धम्र एवं न्याय की स्थापना करना है। यदि कोई व्यक्ति राज्य का विरोध कर रहा है तो इसका अर्थ होगा कि न्याय तथा धर्म की स्थापना के मार्ग में वह अवरोधक है। राजा के हाथ में दण्ड रहता है, जिसके माध्यम से वह दुश्टों का दमन करता है। राज्य सामाजिक परम्पराओं, रीति रिवाजों का रक्षण करने वाली एक संस्था है यदि उसकी उपेक्षा की गई है तो समाज की सारी व्यवसीा ही बिखर जायेगी। अतः राजा की आज्ञा का पालन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कर्तव्य बताया गया है, ताकि सभी लोग अनुशासित जीवन व्यतीत कर सके।

राजा–प्रजा सम्बंध

राजा और प्रजा के बीच अतिघनिश्ठ संबंध होना वर्णित है। राजा और राजपरिवार के सुख–दुःख में प्रजा भामिल रहती थी, और प्रजा के सुख दुख में राजा भी सहभ ाागी होता था। राज्य के प्रायः सभी समारोहो, उत्सवों पूर्वक भाामिल होती थी। ऐसा समझा जाता था कि राजा और प्रजा दोनो एक ही परिवार के सदस्य है राजा द्वारा प्रजा से परामर्श करने तथा उनके विचारों का समादर करने का विवरण मिलता है। कुवलयमाला से भी राजा और प्रजा के बीच अच्छे संबंधों प्रजा द्वारा राजा से कश्ट निवेदन और राजा द्वारा उसका निवारण करने की सूचना मिलती है। प्रजा राजा को अपनी आय का ाश्ठांश कर के रूप में प्रदान करती थी। यही राजा की आय होती थी। राजा को भृत्य की भांति प्रजा की सेवा करने की व्यवस्था जैनेतर ग्रंथों में मिलती है।

राजा प्रजा में सामन्जस्य स्थापित करते हुए राजा को प्रजा का सेवक स्वीकार किया गया है। प्रजा राजा का अनुकरण करती थी। राजा द्वारा जिन दीक्षा ग्रहण करने पर उसके साथ अनेक प्रजा तथा उसके अधिकारी संबंधी आदि भी जिन दीक्षा ग्रहण कर लेते थे, जिसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। यदि राजा धर्मात्मा होता था तो प्रजा भी धर्मात्मा होती थी और राजा के अधार्मिक होती थी। जैसा राजा वैसी प्रजा की कहावत चरितार्थ होती है। जैसे–'यथा राजा तथा प्रजा' 'अनाचारे स्थिते तस्मिन लोकस्तत्र प्रवर्तते।'

'धर्म भाीले महीपाले यान्ति तच्छीलता प्रजाः।

अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजाः।। महा. 41/97

जैनेतर ग्रंथो मे भी उपर्युक्त मत का प्रतिपादन हुआ है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का भी हित था। अतः राजा को अपना हित न देखकर प्रजा का हित देखने का निर्देन दिया गया है यथा–

'प्रजा सुखे राज्ञः प्रजानां च हिते हिमत्।

नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।

महापुराण में उल्लिखित है कि प्रजा राजा को ब्रह्म मानकर समृद्धि प्राप्त करती थी। यथा–

'प्रजा प्रजापतिं मत्वां तमैधन्त सुमेधसम।'

महापुराण में ही राजा द्वारा प्रजा के रक्षार्थ विभिन्न उपायों का निरूपण करते हुए वर्णित है कि राजा को अपनी प्रजा का पालन उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार आलस्यरहित होकर ग्वाला बड़े यत्न से अपनी गायों की रक्षा करता है। जिस प्रक. ार ग्वाला अपनी गाय को अंगछेद आदि का दण्ड नही देता है। उसी प्रकार राजा को भी दण्ड देने में अपनी प्रजा के साथ न्यायोचित उदारता करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्वाले के समान राजा अपनी प्रजा के रक्षार्थ दवा देना, सेवा करना, आ. जीविका का प्रबंध करना, परीक्षा करके उच्चकुलीन पुत्रों को क्रय करना और अपने राज्य में कृशकों को बीज आदि प्रदान कर खेती कराना चाहिए। हरिवंश पुराण के अनुसार राजा को प्रजा के साथ पिता तुल्य व्यवहार करना चाहिए।

यद्यपि राजा का सर्वोच्च लक्ष्य प्रजा–रक्षण–पालन था किन्तु व्यवहार में ऐसा प्रतीत नही होता। एक प्रसंग में प्रजा का राजा से भयभीत रहने तथा राजा से अपना दुःख कहने में आतंकित रहने का उल्लेख है। हरिवंश पुराण में ही प्रजा द्वारा अन्यायी राजा के राज्य से निश्कासन का भी उल्लेख हैं।